भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकलपनाएं

सम्पादक : डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

ISBN : 978 - 81 - 993854 - 7 - 4

मूल्य - 300/-

रचना -
भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक -
डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

आवरण -
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक -
श्री श्याम ऑफसेट, किशनगढ़

महर्षि दयानन्द का राजनीतिक चिन्तन

डॉ. मुकेश शर्मा
विभागाध्यक्ष (समाज विज्ञान विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इन्स्टीट्यूट ऑव साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

स्वामी दयानन्द सरस्वती (1823-1883) के प्रादुर्भाव के समय भारतीय समाज एक गहन संकट से गुजर रहा था। धर्म का स्वरूप अपने मूल आदर्शों से विचलित होकर विकृत और जड़ हो चुका था। मठाधीश, महंत, कनफटे, जटाधारी, उदासीन तथा नागा साधु बाह्याचार और कर्मकाण्ड में उलझकर धर्म का वास्तविक स्वरूप खो बैठे थे। पंचमकार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन को साधना का अंग मानने वाले संन्यासी समाज को भटकाने में लगे थे। फलस्वरूप धर्म की उदात्तता और उसकी नैतिक गरिमा लुप्तप्राय हो चुकी थी। धर्म के इस पतन का प्रत्यक्ष परिणाम समाज की जर्जर अवस्था के रूप में सामने आया। सामाजिक जीवन असंख्य कुप्रथाओं और अंधविश्वाासों - सतीप्रथा, बालविवाह और वृद्धविवाह से ग्रस्त था।

ऐसी विषम परिस्थितियों में स्वामी दयानन्द ने समाज में एक नई चेतना का संचार किया। उन्होंने वेदों की ओर लौटकर धर्म के शुद्ध, तर्कसंगत और सार्वभौमिक स्वरूप की प्रतिष्ठा की। वास्तव में, उनके जीवन का वेदज्ञ स्वरूप दार्शनिकों और विद्वानों के लिए महत्वपूर्ण रहा, किंतु जनता ने उन्हें अधिक निकटता से समाज सुधारक के रूप में स्वीकार किया।

प्राचीन भारत में जहाँ एक ओर धर्म, दर्शन और अध्यात्म का गहन विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर ऐहलौकिक जीवन अर्थात् समाज और राज्य की व्यवस्था पर भी गंभीर चिन्तन किया गया। मनीषियों ने इस पक्ष की उपेक्षा नहीं की, बल्कि इसे समान रूप से महत्व दिया। राजनीति को प्राचीन भारत में विभिन्न नामों से अभिहित किया गया, जैसे— अर्थशास्त्र, दण्डनीति, राजधर्म, नीतिशास्त्र। भारतीय राजनीति-शास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसका संकेत चाणक्य (कौटिल्य) के अर्थशास्त्र (350 ईसा पूर्व के लगभग) में मिलता है। चाणक्य ने अपने ग्रन्थ में जिन आचार्यों और सम्प्रदायों के मतों का उल्लेख किया है, उनमें भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र, कात्यायन इत्यादि हैं। दुर्भाग्यवश, इन महान आचार्यों के स्वतंत्र ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान में राजनीतिक चिन्तन

और प्रशासन संबंधी जो ग्रन्थ प्राचीन भारत से प्राप्त होते हैं, उनमें – कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, महाभारत का शान्तिपर्व, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, कामन्दक का नीतिसार प्रमुख हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती केवल अध्यात्मचेता और समाज सुधारक ही नहीं थे, बल्कि वे एक गहन राष्ट्रवादी और दूरदर्शी राजनीतिक चिन्तक भी थे। उनके सम्पूर्ण कार्यों, उपदेशों और आंदोलन के पीछे राष्ट्रप्रेम और देशोद्धार की अखण्ड धारा प्रवाहित होती है। भारत की पराधीनता उन्हें अत्यन्त व्यथित करती थी। वे देश की दासता को केवल राजनीतिक या सैनिक दुर्बलता का परिणाम नहीं मानते थे, बल्कि इसके मूल कारणों में— आपसी फूट और झगड़े, धर्मों और सम्प्रदायों का वैषम्य, नैतिकता का पतन, अशिक्षा और अज्ञान, असत्य और असंयम जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ को देखते थे। उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त यथार्थवादी और समाज-सापेक्ष था। वे मानते थे कि जब तक समाज आत्मचेतना और विवेकपूर्ण दृष्टि से युक्त नहीं होगा, तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता सम्भव नहीं है। यद्यपि दयानन्द प्रत्यक्ष राजनीति में सक्रिय नहीं हुए, किन्तु उनका कार्य राजनीतिक पुनर्जागरण की आधारभूमि तैयार करना था। उन्होंने शिक्षा, धर्मसुधार, जातिवाद-विरोध और नारी उत्थान के क्षेत्र में व्यापक कार्य कर राष्ट्रनिर्माण की जड़ों को सींचा। उनके शब्दों में—

''भारत पर विदेशी अधिकार के प्रमुख कारण हैं आपसी झगड़े, धर्मों का वैषम्य, नैतिकता का अवमूल्यन, अशिक्षा, असत्य, असंयम, अन्यान्य और अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ। वास्तव में जब भाई-भाई आपस में ही लड़ने लगते हैं तभी कोई बाहरी व्यक्ति उनके घर पर अधिकार जमा सकता है।''

स्वामी दयानन्द ने ऐसे राजनीतिक विचार रखे जो अपने समय से बहुत आगे थे। उनका जीवनकाल (1824 से 1883) उस समय का था जब भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था। उस समय देश में स्वशासन की कोई संस्था नहीं थी। भारत में लोकतन्त्र का नामोनिशान नहीं था और यूरोप में भी लोकतन्त्र अभी शुरुआती अवस्था में ही था। ऐसे समय में स्वामी दयानन्द ने अपने देशवासियों के सामने राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्ण स्वराज्य का विचार रखा। यह उस युग में बिल्कुल नया और क्रांतिकारी विचार था। स्वामीजी ने यह भी कहा कि शासन का काम सभाओं द्वारा होना चाहिए। उनके अनुसार शासक का मतलब है निर्वाचित सभापति। यह सभापति उसकी योग्यता और श्रेष्ठता के आधार पर चुना जाना चाहिए। लेकिन चुने जाने के बाद भी वह अकेले अपनी इच्छा से शासन नहीं कर सकता, उसे हमेशा सभा की सहमति और अनुमति से ही शासन करना होगा। इस प्रकार सभा के बिना शासक को निरंकुश (तानाशाह) सत्ता नहीं दी जा सकती। यजुर्वेद भाष्य (अध्याय 16, मंत्र 24)

की व्याख्या में स्वामीजी ने लिखा है— ''मनुष्यों को चाहिए कि राज्य की व्यवस्था सभा और सभापतियों से ही करें। कभी भी एक राजा के अधीन न हों, क्योंकि एक व्यक्ति सबके हित-अहित का विचार नहीं कर सकता।''

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द केवल वेदों के महान विद्वान और समाज सुधारक ही नहीं थे, बल्कि एक मौलिक राजनीतिक विचारक भी थे। वे आधुनिक भारत के सच्चे पथप्रदर्शक कहलाते हैं। उन्होंने भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों—धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक में प्रगति का मार्ग दिखाया। भारतवासियों को स्वराज्य, स्वभाषा और स्वदेशी का नारा सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने ही दिया। यही नारे आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन के आधार बने। उनके विचारों से भारत के अनेक आधुनिक राजनीतिक चिन्तक और नेता प्रभावित हुए। फिर भी यह दुख की बात है कि उनके राजनीतिक दर्शन के महत्व को आज तक पूरी तरह नहीं समझा गया।

दयानन्द सरस्वती ने उस भारत की आत्मा को जागृत किया, जो युगों से सुप्त पड़ी थी। उन्होंने भारतीय समाज को एक नई चेतना और शक्ति दी। उनके व्यक्तित्व की बहुमुखी प्रतिभा हमें उस प्राचीन आदर्श की याद दिलाती है, जिसमें मनुष्य के विभिन्न गुण और शक्तियाँ तेजोमय रूप से एक साथ विद्यमान होती थीं। यूनानी सभ्यता में जहाँ बौद्धिक क्षमता, सौन्दर्य और शारीरिक बल को सर्वोच्च माना गया, वहीं प्राचीन भारतीय परम्परा में शक्ति और धैर्य (धीरज) की कामना की जाती थी। लेकिन इसके साथ ही भारतीय मनीषियों ने नैतिकता (ऋत) और आध्यात्मिकता को भी उतना ही महत्व दिया। वे केवल बाहरी शक्ति के ही नहीं, बल्कि सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और नैतिकता से पूर्ण ब्रह्मतत्व के भी उपासक थे। इसी महान परम्परा के पुनर्जागरण का कार्य स्वामी दयानन्द ने किया और भारतीय समाज को उसकी वास्तविक पहचान से परिचित कराया।

स्वामी दयानन्द ने ऐसे समय भारतीय राष्ट्रवाद में नई चेतना का संचार किया जब भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का शिकंजा कसता जा रहा था। ईसाई सभ्यता भारतीय संस्कृति को दबाने का प्रयास कर रही थी और कई प्रमुख समाज-सुधारक भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे। ऐसे कठिन और निराशाजनक समय में महर्षि दयानन्द हिन्दू पुनर्जागरण के प्रखर प्रवक्ता बनकर सामने आए। उन्होंने पश्चिमी चकाचौंध से प्रभावित भारतवासियों में अपनी संस्कृति के प्रति गर्व और आत्मगौरव की भावना जगाई। जो मनोवृत्ति बाहर की ओर झुक चुकी थी, उसे मोड़कर उन्होंने देश और अपनी परम्परा की ओर लगा दिया।

दयानन्द ने भारतवासियों को उनके देश की महानता का बोध कराया। वे कहा

करते थे कि आर्यावर्त (भारत) अद्वितीय देश है, जिसका कोई समकक्ष इस समूचे विश्व में नहीं है। भारत को वे सच्ची पारस-मणि कहते थे—ऐसी पारस-मणि, जिसे छूकर विदेशी, चाहे कितने ही निर्धन क्यों न हों, धनवान और सम्पन्न बन जाते हैं।

दयानन्द ने प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लिया, किन्तु उनकी समस्त चिन्ता और प्रेरणा राष्ट्र के उत्थान तथा स्वराज्य की स्थापना की ओर अग्रसर थी। वे भारत को 'आर्यावर्त' कहकर पुकारते थे और इसे पारसमणि तथा स्वर्णभूमि बताते थे। जब वे भारत में अखण्ड, स्वतन्त्र और निर्भय शासन का अभाव देखते थे, तो बहुत दुखी होते थे। इसी कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में देश की गुलामी पर शोक व्यक्त किया और वैदिक मन्त्रों के भाष्य करते समय भी भारत की स्वतन्त्रता के लिए ईश्वर से प्रार्थना की। उन्हें प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज की कमजोर देशभक्ति पर खेद था। ब्रह्म समाज के बारे में उन्होंने लिखा— ''इनका जन्म भले ही आर्यावर्त में हुआ है और ये इसी देश का अन्न खाते हैं, फिर भी इन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म को छोड़कर विदेशी धर्मों की ओर झुकाव कर लिया है। वे अपने को विद्वान मानते हैं, परन्तु देशी संस्कृत विद्या से अनभिज्ञ हैं। अंग्रेज़ी ज्ञान के घमण्ड में उन्होंने जल्दबाजी में एक नया धर्म खड़ा कर लिया है।'' ब्रिटिश लेखक वैलेण्टाइन शिरोल ने भी यह माना कि— ''दयानन्द का उद्देश्य केवल हिन्दू धर्म का सुधार करना नहीं था, बल्कि उसे विदेशी प्रभावों के विरुद्ध संगठित करना भी था, जो उसके स्वभाव को बिगाड़ रहे थे।'' स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य की महिमा का गुणगान बड़े जोशीले शब्दों में किया। वे राष्ट्रवाद के अग्रदूत थे। उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा लेकर स्वराज्य का सशक्त नारा बुलंद किया। वे कहते थे कि महाभारत का युद्ध और आर्यावर्त का पतन दुर्योधन की हठधर्मिता और आन्तरिक फूट के कारण हुआ। इस प्रकार उन्होंने यह शिक्षा दी कि सुशासन कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता।

सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में उन्होंने लिखा— ''विदेशी शासन जनता को कभी पूरी तरह सुखी नहीं बना सकता, चाहे वह धार्मिक पक्षपात से रहित हो, कितना भी दयालु और न्यायप्रिय क्यों न हो।'' उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण में प्राचीन काल में आर्यों का साम्राज्य पूरे विश्व में फैला हुआ था। उन्होंने पतनग्रस्त भारत के सामने चक्रवर्ती साम्राज्य और स्वराज्य का आदर्श रखा। दयानन्द के निधन के बाद आर्य समाज ने वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रचार किया। उन्होंने वेदों में निहित शक्ति, शुद्धता, स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता का संदेश इतनी तीव्रता से फैलाया कि जनता में अपने अधिकारों को लेकर चेतना और आत्मविश्वास जाग उठा। यद्यपि आर्य समाज कोई राजनीतिक संस्था नहीं थी और उसने क्रान्तिकारी गतिविधियों से

दूरी बनाए रखी, फिर भी उसने भारतीयों के हृदय में राष्ट्रवाद और देशभक्ति की भावना जगाने में अग्रदूत का काम किया। स्वामी श्रद्धानन्द और रामदेव ने अपनी पुस्तक 'द आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स' में लिखा— ''जब आर्य समाज प्राचीन भारत का गौरवगान करता है तो उससे राष्ट्रवाद की भावना को बल मिलता है। भारतीय युवाओं का सुप्त राष्ट्रीय गर्व जाग उठता है। उन्हें यह एहसास होता है कि भारत का इतिहास केवल गुलामी और अपमान की कथा नहीं, बल्कि यह उस पवित्र भूमि की गाथा है जहाँ वेदों का ज्ञान विकसित हुआ और जहाँ ऐसे आदर्श पुरुष हुए जिन्होंने वेदों की उच्चतम नैतिक शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारा। इसलिए सच्ची देशभक्ति, जो वेदभक्ति की दासी है, ऊँची, प्रेरणादायक, शक्तिदायिनी और एकीकरण करने वाली है।''

इस प्रकार, स्वामी दयानन्द का राष्ट्रवादी चिन्तन प्रत्यक्ष राजनीतिक क्रान्तिकारी स्वरूप का नहीं था, बल्कि वह सांस्कृतिक और वैचारिक क्रान्ति का प्रवाह था, जिसने आगे चलकर स्वतन्त्रता आन्दोलन को गहराई और दिशा प्रदान की।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार उनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थों में उपलब्ध हैं-

1. सत्यार्थ प्रकाश, 2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, 3. स्वामन्तव्यामन्तव्य प्रकाश, 4. स्वामी दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, 5. यजुर्वेद भाष्य, 6. ऋग्वेद भाष्य, 7. आर्याभिविनय, 8. व्यवहारभानु, 9. उपदेश मंजरी ।

राष्ट्रभक्त महर्षि दयानन्द केवल एक आदर्श शिष्य ही नहीं, बल्कि सच्चे देशभक्त भी थे। उनके जीवन और विचारों में राष्ट्रप्रेम स्पष्ट झलकता है। वे भारत में राष्ट्रवाद और स्वराज्य की भावना के प्रथम प्रवर्तक थे। कांग्रेस के जन्म से पहले ही उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' (1874) में लिखा - ''कैसा भी विदेशी शासन क्यों न हो, स्वदेशी शासन ही सबसे उत्तम है।'' वे हमेशा कहा करते थे कि कोई भी विदेशी सत्ता स्वराज्य की बराबरी नहीं कर सकती। एक बार उनकी मुलाकात अंग्रेज अधिकारी लॉर्ड नॉर्थब्रुक से हुई। अधिकारी ने कहा - ''आप विभिन्न मजहबों का विरोध करते हैं, जिससे लोग आपके खिलाफ हो जाते हैं। यदि आप चाहें तो अंग्रेज सरकार आपकी सुरक्षा की व्यवस्था कर सकती है।'' इस पर महर्षि दयानन्द ने दृढ़ता से उत्तर दिया - ''सरकार ने मुझे विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता दी है, वही मेरे लिए पर्याप्त है। मेरे शरीर का सबसे बड़ा रक्षक परमात्मा है, किसी शासक की नहीं।'' अधिकारी ने कहा - ''जिस अंग्रेज शासन ने आपको यह स्वतंत्रता दी है, उसके बने रहने की प्रार्थना आपको करनी चाहिए।'' तब दयानन्द ने बहुत स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया - ''मैं ऐसा कभी नहीं कर सकता। मैं तो

रोज़ भगवान से यही प्रार्थना करता हूँ कि भारत से अंग्रेजी शासन पूरी तरह समाप्त हो।'' यह सुनकर अधिकारी चुप हो गया और अपनी रिपोर्ट में लिखा – ''मेरी मुलाकात एक ऐसे फकीर से हुई है, जो खुलकर अंग्रेजी शासन के अंत की बात करता है। यदि वह मेरे सामने इतना कह सकता है तो जनता को कितना भड़काता होगा!'' यह घटना बताती है कि महर्षि दयानन्द सच्चे अर्थों में स्वदेशभक्त और स्वराज्य के जनक थे। बाद में 1906 में, दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार कांग्रेस के मंच से 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण हुआ, जो दयानन्द के विचारों का ही प्रभाव था।

स्वामी दयानन्द का राजनीतिक दर्शन वेदों और मनुस्मृति के विचारों का संगम था। इन दोनों से उन्होंने अपने राजदर्शन की नींव रखी। मनुस्मृति से उन्होंने यह विचार लिया कि वही राजा श्रेष्ठ है जो धर्म के अनुसार शासन करे और मंत्रियों की सलाह लेकर राजकार्य चलाए। धर्म की अनदेखी करने वाला शासक अनैतिक और निरंकुश हो जाता है। इसलिए दयानन्द ने राजा के कुछ निश्चित गुणों को अनिवार्य माना और राजतंत्र को सीमित करते हुए उसे जन-इच्छा का सम्मान करने की प्रेरणा दी। दयानन्द ने धर्म को संकीर्ण रूप में नहीं, बल्कि मानव-धर्म और उदात्त दृष्टि से देखा। वे समानता और न्याय को धर्म का आधार मानते थे। वेदों से दयानन्द ने लोकतंत्र के बीज ग्रहण किए। वैदिक परंपरा में राजाओं के चयन (निर्वाचन) का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार, राजनीतिक सत्ता को हमेशा आध्यात्मिक और नैतिक सत्ता (ब्रह्म) की सहायता से कार्य करना चाहिए। इसलिए उन्होंने सबसे पहले नैतिक पुनर्जागरण पर जोर दिया। उनका मत था कि राजनीति को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता। शासकों को सदैव आध्यात्मिक नेताओं के मार्गदर्शन में कार्य करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने धर्मनिरपेक्ष या केवल भौतिकवादी राजनीति को सन्देह की दृष्टि से देखा। चूँकि वे संस्कृत की सूक्ति ''परोपकाराय सतां विभूतय:'' (सज्जनों की सम्पत्ति केवल दूसरों के उपकार के लिए होती है) में विश्वास रखते थे, इसलिए वे ऐसे किसी भी राजनीतिक उद्देश्य को बुरा मानते थे जिसमें मानव-कल्याण की भावना न हो।

स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के राजधर्म प्रकरण में केवल अथर्ववेद के 'इन्द्रो जयाति' तथा अन्य मन्त्रों को ही उद्धृत नहीं किया, बल्कि उन्होंने राजसभा और समिति से संबंधित मन्त्रों (तं सभा च समितिश्च तथा सभ्य सभां मे पाहि) की भी व्याख्या की। राजधर्म की इस व्याख्या को और परिपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने मन्त्र-संहिता से आगे बढ़कर ब्राह्मण-ग्रन्थों में आये प्रसंगों को भी सम्मिलित किया। वे स्वयं लिखते हैं— ''इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिता, अतोऽग्र ऐतरेय-

शतपथ-ब्राह्मणादि-ग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते।'' अर्थात्, वे पहले वेद-मन्त्रों के आधार पर राजधर्म की व्याख्या करते हैं और फिर आगे इस विषय को ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में आये वर्णनों के आधार पर भी स्पष्ट करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर उन्होंने साम्राज्य, भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य और पारमेष्ठ्य जैसे विभिन्न शासन-प्रणालियों का विवेचन किया। शतपथ ब्राह्मण के 'राष्ट्रं वा अश्वमेध:' (13/1/6/1) मन्त्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि न्यायपूर्ण राज्य-पालन ही सच्चा अश्वमेध-यज्ञ है। इस प्रकार, स्वामी दयानन्द ने वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर एक संपूर्ण और गहन राजधर्म दर्शन प्रस्तुत किया, जिसमें राज्य का वास्तविक यज्ञ केवल प्रजा-कल्याण और न्यायपूर्ण शासन को माना गया।

स्वामी दयानन्द के 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'यजुर्वेद-भाष्य' और 'ऋग्वेद-भाष्य' का गहन अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे केवल एक धार्मिक नेता और समाज-सुधारक ही नहीं थे, बल्कि एक मौलिक राजनीतिक चिन्तक भी थे। इस क्षेत्र में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूणज़ और मौलिक माना जाता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परंपरा में, अपने विचारों और सिद्धान्तों के कारण, स्वामी दयानन्द को मनु, शुक्र, चाणक्य और कामन्दक जैसे महान राजनीतिक चिन्तकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। विशेष रूप से, उन्होंने लगभग बारह शताब्दियों के अंतराल के बाद भारतीय राजनीतिक चिन्तन को नए और मौलिक विचार प्रदान किए। उनसे पूर्व, मध्यकालीन और आधुनिक भारत में इस प्रकार का स्वतंत्र और मौलिक राजनीतिक चिन्तन लगभग नहीं मिलता।

स्वामी दयानन्द ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से उस समय की परिस्थितियों को भली-भाँति समझा और धार्मिक व सांस्कृतिक पुनर्जागरण का संकल्प लिया। इसी उद्देश्य से उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। स्वामीजी के जीवनकाल में ही पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और अन्य प्रांतों में अनेक आर्य समाज स्थापित हो चुके थे। लोकतांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित इस संगठन की महत्ता शीघ्र ही लोगों के सामने स्पष्ट हो गई। आर्य समाज का उद्देश्य केवल सामाजिक और धार्मिक सुधार तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें राष्ट्रभावना का जागरण भी निहित था। आर्य समाज ने देश में लोकतांत्रिक विचारों को मज़बूती दी और यह घोषणा की कि जाति का आधार जन्म नहीं, बल्कि गुण, कर्म और स्वभाव होना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने भारत की सुप्त पड़ी हुई आत्मा को झकझोरा और समाज-सुधार की प्रक्रिया को नया वेग दिया। आर्य समाज ने यह भी स्पष्ट किया कि आध्यात्मिक चेतना का जागरण और सामाजिक संगठन की मज़बूती—दोनों आवश्यक हैं।

ऋषि दयानन्द के लिए राजधर्म का प्रतिपादन अत्यंत आवश्यक और सामयिक

था। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने प्रमुख सिद्धान्त-ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थों में प्रसंगानुसार इस विषय की विस्तृत चर्चा की है। उदाहरणस्वरूप, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका यद्यपि वेद-ज्ञान संबंधी विषयों का विवेचन करने वाला ग्रन्थ है, तथापि उसमें विशेष रूप से 'अथ राजप्रजाधर्मविषय: संक्षेपत:' शीर्षक के अंतर्गत राजधर्म का व्यवस्थित प्रतिपादन मिलता है। इस प्रकरण के आरम्भ में ऋग्वेद का मन्त्र 'त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि' (ऋग्वेद 3/86/6) तथा यजुर्वेद के मन्त्र 'क्षत्रियस्य योनिरसि' (20/1) और 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च' (20/25) को उद्धृत करते हुए उन्होंने राजा द्वारा गठित राजार्यसभा, विद्यार्यसभा और धर्मार्यसभा के कर्तव्यों को स्पष्ट किया है। आगे यजुर्वेद के अन्य मन्त्रों के आधार पर भी राजधर्म का विवेचन किया गया है। विशेष रूप से 'इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय' (यजुर्वेद 9/14) मन्त्र का उल्लेख करते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं कि सभाध्यक्ष अथवा राजा वही होना चाहिए जो वेदवित्, सौम्य-स्वभाव वाला, सर्वविद्या से सम्पन्न तथा प्रजाजन को सुख देने वाला हो। साथ ही उसमें ऐसी शक्ति हो कि वह शत्रुओं का दमन कर सके और निष्कण्टक राजधर्म की स्थापना कर सके।

दयानन्द वेदों के गहन विद्वान, श्रेष्ठ तर्कशास्त्री और समाज-सुधारक थे। हालाँकि उन्होंने राजनीति पर कोई विशेष ग्रन्थ नहीं लिखा, फिर भी भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। इसके पीछे दो मुख्य कारण हैं। पहला, उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता की बुनियाद रखी। उन्होंने हिन्दी भाषा में वेदभाष्य लिखे, दलितों और स्त्रियों के उत्थान के लिए संघर्ष किया और शिक्षा पर विशेष बल दिया। इन सबने जनता को नई शक्ति और आत्मविश्वास दिया। वे सामाजिक न्याय के पक्षधर थे और समाज के पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए कार्य किया। जिस समय भारत पर अंग्रेज़ी शासन मज़बूती से स्थापित था, उस दौर में उन्होंने स्वराज्य की महत्ता का बखान किया। दूसरा, दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की, जो उत्तर भारत में शिक्षा और समाज-सुधार की एक प्रभावशाली संस्था बनी। आर्य समाज ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए अनेक देशभक्त और योद्धा तैयार किए। यह संस्था भले ही राजनीतिक संगठन न थी, पर उसने जनमानस में देशभक्ति, आत्मबल, अन्याय के प्रति प्रतिकार और स्वतन्त्रता की भावना घर-घर पहुँचाई। इसी कारण दयानन्द और आर्य समाज को भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में एक ऊँचा स्थान प्राप्त है। विख्यात विचारक रोम्यां रोलां लिखते हैं कि "दयानन्द भारत की जनता के महान् उद्धारक थे। वे राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण और संगठन के सबसे बड़े प्रेरणास्रोत थे। उनके आर्य समाज ने अप्रत्यक्ष रूप से बंगाल विभाजन (1905) के आन्दोलन को राह दिखाई। वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के उत्साही संदेशवाहक थे। ऐसा लगता है कि जब पूरा देश सो रहा था, तब वे

अकेले जागकर सबको जगाने का प्रयास कर रहे थे।'' दयानन्द ने अन्धविश्वास और रूढ़ियों के विरुद्ध आलोचनात्मक चिन्तन और जिज्ञासा की भावना पैदा की। इसने स्वतन्त्रता, सामाजिक और आर्थिक मुक्ति के आन्दोलनों के लिए आधारभूमि तैयार की। यही कारण था कि उनके शिष्य—स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपत राय जैसे नेता—देश के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने में पीछे नहीं हटे। उनका स्वदेश-प्रेम केवल समाज-सुधार तक सीमित नहीं था, बल्कि शिक्षा और संस्कृति के पुनर्जागरण से भी जुड़ा था। उन्होंने वैदिक शिक्षा पद्धति, यानी गुरुकुल प्रणाली को पुनर्जीवित करने का संकल्प लिया, ताकि भारतीय समाज में आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान का विकास हो सके।

दादाभाई नौरोजी ने सत्यार्थ प्रकाश के बारे में कहा कि ''मुझे 'सत्यार्थप्रकाश' से स्वराज्य प्राप्ति के लिए विशेष प्रेरणा मिलती है, इसीलिए मैं इसका नियमित स्वाध्याय करता हूँ।'' यह कथन स्वयं इस बात का प्रमाण है कि महर्षि दयानन्द के विचारों ने भारत की स्वतन्त्रता की चेतना को कितना गहराई से प्रभावित किया। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर स्वदेशभक्ति से ओत-प्रोत विचार प्रस्तुत किए हैं। यजुर्वेद (36/24) मन्त्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा— ''हम सौ वर्षों तक कभी भी पराधीन न रहें, हम सदा स्वतंत्र बने रहें। कोई विदेशी शासक कभी हमारे देश पर शासन न करे।'' इस प्रकार की व्याख्या उनके तीव्र स्वदेश-प्रेम और स्वतन्त्रता की प्रबल भावना को स्पष्ट करती है।

महर्षि दयानन्द केवल धर्म-सुधारक ही नहीं थे, बल्कि वे भारतीयों में स्वदेश-प्रेम और स्वराज्य-चेतना के प्रबल प्रेरक भी थे। एक बार अपने व्याख्यान में उन्होंने लोगों को जागरूक करते हुए कहा— ''देखो, अंग्रेज़ अपने देश के बने हुए जूतों को ही दफ्तर और कचहरी में स्वीकार करते हैं, पर हमारे देश के बने हुए जूतों को वहाँ मान्यता नहीं देते।'' दयानन्द के उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि वे स्वदेशी वस्तुओं के अपमान को किसी भी परिस्थिति में सहन करने को तैयार नहीं थे। उनके इसी स्वदेश-प्रेम ने आगे चलकर भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गहराई से प्रभावित किया। यूरोप के प्रसिद्ध चिन्तक रोम्यां रोलां ने 1930 के राष्ट्रीय जनजागरण का उल्लेख करते हुए 'स्वामी रामकृष्ण परमहंस' की जीवनी में लिखा— ''भारतीय राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म और जागरण, जो इस समय (1930) अपने पूर्ण यौवन में दिखाई दे रहा है, उसकी सबसे प्रबल प्रेरणा दयानन्द से प्राप्त हुई है।'' दयानन्द का विश्वास था कि भारत का वास्तविक उत्थान तभी सम्भव है, जब देशवासी एक धर्म, एक भाषा और एक राष्ट्रीय भावना से बंधे हों। उन्होंने मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को उत्तर देते हुए कहा था— ''जब एक धर्म, एक भाषा और एक भावना सभी देशवासियों की हो

जायेगी, तभी भारत का स्वत: ही पूर्ण सुधार हो जाएगा।'' उनका स्वप्न था कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक सभी भारतीय एक ही भाषा बोलें। इसी कारण, यद्यपि वे मातृभाषा से गुजराती थे और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् भी, उन्होंने अपने ग्रन्थों में संस्कृत के साथ हिन्दी भाषा को प्रमुख स्थान दिया। वास्तव में, यह विश्व इतिहास का पहला अवसर था जब किसी वेदभाष्यकार ने वेदों की व्याख्या संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में की। इसके द्वारा उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अभियान प्रारम्भ किया। इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बाँधने, स्वदेश-भक्ति की भावना जगाने और स्वराज्य-प्रेम की प्रेरणा देने में ऐतिहासिक योगदान दिया।

स्वामी दयानन्द को हम प्रत्यक्ष रूप से एक राजनीतिक चिन्तक नहीं कह सकते, क्योंकि उन्होंने राजनीति विषयक कोई व्यवस्थित सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी वे अपने समय की राजनीतिक परिस्थितियों और देशवासियों की परतन्त्रता से पूर्णतः परिचित और जागरूक थे। यही कारण है कि समय-समय पर अपने भाषणों और लेखन में उन्होंने ऐसे विचार प्रकट किए जिनका अंतिम उद्देश्य देश की गुलामी के मूल कारणों को दूर करना था। दयानन्द का मानना था कि भारत की पराधीनता का सबसे बड़ा कारण सामाजिक फूट, अज्ञान और परस्पर अविश्वास है। इसलिए वे सबसे पहले समाज-सुधार और धार्मिक जागरण पर बल देते हैं, ताकि मानसिक गुलामी समाप्त हो और जनता में आत्मविश्वास जागे। उनका प्रयत्न था कि हिन्दू समाज में स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना प्रस्थापित हो, जिससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो सके। धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण के माध्यम से दयानन्द ने परोक्ष रूप से राजनीतिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त किया। उनका उद्देश्य केवल समाज को रूढ़ियों और अंधविश्वासों से मुक्त करना ही नहीं था, बल्कि जनता में उस राष्ट्रीय चेतना को जगाना भी था जो विदेशी शासन से मुक्ति के लिए आवश्यक थी। वस्तुतः, महर्षि दयानन्द ने अपने विचारों और कार्यों से भारतीय राष्ट्रवाद का बिगुल फूँका और आने वाले स्वतन्त्रता संग्राम के लिए आधारभूमि तैयार की।

ऋषि दयानन्द प्रतिपादित राजधर्म

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में आदर्श मानव जीवन की संपूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत की है। जन्म से लेकर शिक्षा, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तक के विभिन्न आश्रमों की व्यवस्था के साथ-साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि मनुष्य किस प्रकार आदर्श जीवन व्यतीत करे और पूर्णायु प्राप्त करे। इसी क्रम में दयानन्द ने *राजधर्म* अथवा राज्य-प्रशासन पर भी विचार किया और इस विषय को उन्होंने ग्रन्थ के छठे समुल्लास में स्थान दिया। दयानन्द राजनीति शब्द की अपेक्षा राजधर्म

शब्द को अधिक उपयुक्त मानते हैं। इसीलिए उन्होंने इस अध्याय का शीर्षक दिया—

अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः

इस विवेचन में उन्होंने प्रमुखतः मनुस्मृति को आधार बनाया, क्योंकि मनु ने राज्यव्यवस्था, शासक के कर्तव्य और प्रजा के अधिकारों का गम्भीर और व्यवस्थित विवेचन किया है। महर्षि दयानन्द ने शासक को 'राजा' शब्द से संबोधित किया है, किन्तु उनका राजा वंशानुगत या पुश्तैनी अधिकार से सत्ता प्राप्त करने वाला नहीं है। वे मानते थे कि राजा निर्वाचित होना चाहिए और उसे अपने कार्यकलापों में निर्वाचित सभा (संसद) और मन्त्रिमण्डल से निर्देश प्राप्त करना चाहिए। इस सम्बन्ध में दयानन्द लिखते हैं— ''एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार नहीं देना चाहिए; किन्तु राजा जो सभापति है, वह सभा के अधीन हो, सभा राजा के अधीन हो, और सभा प्रजा के अधीन तथा प्रजा राजसभा के अधीन रहे।'' इस कथन का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम प्रजा द्वारा सभा का निर्वाचन होना चाहिए। सभा, राजा अथवा राष्ट्राध्यक्ष का चुनाव करे। राजा सभा के प्रति उत्तरदायी हो तथा सभा उसके मार्गदर्शन से शासन चलाए। राजा, सभा और प्रजा—ये तीनों एक-दूसरे के नियन्त्रण में रहें ताकि किसी स्तर पर अन्याय, स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता न पनप सके। यह प्रणाली आधुनिक लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था की ओर संकेत करती है, जहाँ सत्ता का केन्द्र न तो किसी एक व्यक्ति में है और न ही वंश परम्परा पर आधारित है, बल्कि जनता-सभा-शासक के बीच संतुलित शक्ति-वितरण से राष्ट्र का संचालन होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश ग्रंथ में एक पूरा समुल्लास राज्य और शासन विषयक चर्चा को समर्पित किया है। प्राचीन भारतीय राजनीति पर लिखे गए ग्रन्थों—विशेषकर मनुस्मृति को उन्होंने आधार बनाया, किन्तु केवल परम्परा का अनुसरण ही नहीं किया, बल्कि उसके मूल पाठ की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कई स्थानों पर अपने मौलिक विचार भी जोड़े। प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त 'राजा'* शब्द का अर्थ प्रायः वंशानुगत शासक माना जाता रहा है, किन्तु दयानन्द के लिए इसका अभिप्राय अलग था। उन्होंने राजा को 'निर्वाचित सभापति' के रूप में परिभाषित किया। वेदों के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं— ''एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए; राजा सभापति हो, वह सभा के अधीन हो, सभा राजा के अधीन हो, और सभा व राजा दोनों प्रजा के अधीन हों तथा प्रजा राजसभा के अधीन रहे।'' दयानन्द का यह दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि वे एकतंत्रीय शासन के कट्टर विरोधी थे। उनके अनुसार शासन का संचालन केवल विचार-विमर्श और सभा की स्वीकृति के बाद ही होना चाहिए। एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं— ''यह सत्य है कि राजाओं के राजा किसान और परिश्रम करने वाले लोग हैं, और राजा उनका

रक्षक मात्र है।''

राज्य कार्य के संचालन के लिए उन्होंने योग्य और धार्मिक विद्वानों की तीन सभाओं की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया—

1. **विद्यार्य सभा** :- शैक्षिक, बौद्धिक और विद्या सम्बन्धी विषयों के निर्णय के लिए।

2. **धर्मार्य सभा** :- धार्मिक, नैतिक और आचार सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान हेतु।

3. **राजार्य सभा** :- राजनीतिक और प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिए।

इन सभाओं द्वारा बनाए गए नियमों और कानूनों के समक्ष सभी समान हों— यही दयानन्द का मूल सिद्धान्त था। उनका मत था कि राजा और राजपुरुष भी कानून से ऊपर नहीं हैं; यदि वे अपराध करें तो सामान्य जन की तुलना में उन्हें अधिक कठोर दण्ड मिलना चाहिए। इस प्रकार स्वामी दयानन्द की राज्य-व्यवस्था न्याय, समानता, उत्तरदायित्व और विधि के शासन पर आधारित थी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ समुल्लास के अवशिष्ट भाग में राजनीति और शासन-प्रशासन के विविध पक्षों का अत्यन्त गम्भीर विवेचन किया है। इस विवेचन का आधार उन्होंने मनुस्मृति को बनाया, किन्तु केवल उद्धरण मात्र नहीं दिए, बल्कि उन्हें अपने तर्कों और अनुभवों से व्यावहारिक भी सिद्ध किया। उनके अनुसार राज्य का मुखिया अर्थात् राजा, उसके सेनापति और सभी सभासद ऐसे होने चाहिए जो जितेन्द्रिय हों और जिनमें न तो काम और न ही क्रोध दुगुर्णों का स्थान हो। राज्य की व्यवस्था तभी सुचारु रह सकती है जब नेतृत्व और मन्त्रिमण्डल चारिपय की दृढ़ नींव पर आधारित हो। मन्त्रियों की योग्यता के निर्धारण के पश्चात् उन्होंने दूत, सन्धि-विग्रहिक अर्थात् परराष्ट्र मन्त्री, राजपुरोहित, गुप्तचर, राज्यकर्मी तथा राजस्व अधिकारियों के कर्तव्यों का उल्लेख किया। उनकी दृष्टि में यह आवश्यक है कि अन्य देशों में भेजे जाने वाले दूत योग्य, सत्यनिष्ठ और विवेकशील हों, क्योंकि वही विदेशों में राज्य की प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजस्व अधिकारी कर वसूली में इतना ध्यान रखें कि प्रजा पर अनावश्यक आर्थिक बोझ न पड़े और लोग कर व्यवस्था को अन्यायपूर्ण न समझें। गुप्तचरों की महत्ता पर भी उन्होंने विशेष बल दिया। राजा को देश की आन्तरिक स्थिति और पड़ोसी राज्यों की मित्रता या शत्रुता की सही जानकारी निरन्तर मिलती रहे, इसके लिए चतुर, कुशल और निष्ठावान् गुप्तचरों की आवश्यकता है। गुप्तचर व्यवस्था के माध्यम से ही राजा समय-समय पर उचित नीतियाँ बना सकता है। परराष्ट्र नीति के सम्बन्ध में उन्होंने यह विचार रखा कि राजा को मित्र, शत्रु और तटस्थ राज्यों के साथ साम, दान और भेद जैसी नीतियों का

व्यवहारिक उपयोग करना चाहिए। राज्य को सुरक्षित और सशक्त बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि परराष्ट्र सम्बन्ध केवल आदर्शवाद पर नहीं, बल्कि नीति और व्यवहारिकता पर आधारित हों। युद्ध की चर्चा करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया कि यद्यपि कोई राज्य युद्ध नहीं चाहता, फिर भी परिस्थितियाँ प्राय: ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं कि संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। युद्ध के समय राजा के कर्तव्य सामान्य शासन-कर्तव्यों से भिन्न होते हैं। विजय या पराजय की दशा में भी उसका आचरण न्यायपूर्ण और शिष्ट होना चाहिए। युद्ध कौशल पर विचार करते समय उन्होंने संस्कृत ग्रन्थ 'समरांगणसूत्रधार' का उल्लेख किया और मनु द्वारा बताए गए शकट, वराह, मकर, सूची, वज्र, सर्प और पद्म इन सात प्रकार की व्यूह-रचनाओं का वर्णन किया। साथ ही सेना की गति के लिए भूमि, जल और आकाश तीन मार्गों का भी उल्लेख किया।

यद्यपि महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' में अनेकों बार चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा का उल्लेख किया है और अपनी कुछ प्रार्थनाओं में आर्यों के लिए विश्व-साम्राज्य की प्राप्ति की कामना की है, तथापि उनके विचारों का आशय राजनीतिक साम्राज्यवाद से कहीं भिन्न था। वे किसी प्रकार से भारतीयों को आक्रामक साम्राज्य-विस्तार की ओर अग्रसर करना नहीं चाहते थे। न तो उनके हृदय में विश्व-विजय की वैसी राजनीतिक लालसा थी, और न ही वे बाह्य शक्ति के बल पर अन्य देशों को पराजित कर शासित करने की महत्वाकांक्षा रखते थे। उनके लिए चक्रवर्ती राज्य का अर्थ आध्यात्मिक और नैतिक प्रभुत्व था, न कि राजनैतिक वर्चस्व। दयानन्द सरस्वती मूलत: नैतिकता और धर्म के उपासक थे। उनकी दृष्टि में भारत का वास्तविक गौरव उसकी आत्मिक शक्ति, उसकी ऋषि-परम्परा और उसकी महान संस्कृति में निहित था। यही कारण था कि वे भारत की नैतिक विजय को ही सर्वोच्च मानते थे। निस्संदेह उन्हें इस गौरव का भान था कि प्राचीन भारत में अनेक चक्रवर्ती सम्राट हुए जिन्होंने धर्म, न्याय और नीति के आधार पर विशाल साम्राज्यों का संचालन किया। वे जानते थे कि उस युग में भारतीय संस्कृति का परचम न केवल भारतभूमि पर, बल्कि विदेशों में भी आदर और ईर्ष्या का कारण था। उनके मन को सबसे अधिक पीड़ा इस तथ्य से होती थी कि देशवासी अपनी असली शक्ति को, अपनी महान् आध्यात्मिक परम्परा को भूलकर पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति के मोहपाश में फँसते जा रहे थे।

स्वामी दयानन्द ने उत्कृष्ट शासन व्यवस्था के विषय में गहन और व्यापक चिन्तन किया है। उनके अनुसार किसी भी राज्य की सुदृढ़ता और स्थिरता का आधार उसके शासकों और राजपुरुषों का चरित्र होता है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं— ''यथा राजा तथा प्रजा'', अर्थात जैसा राजा होता है, वैसे ही उसकी प्रजा भी होती है। इस दृष्टि से,

राजा और उसके अधिकारी कभी भी दुष्टाचार और अन्याय के मार्ग पर नहीं चलें, क्योंकि शासकों के आचरण में गिरावट ही राज्य की समस्त समस्याओं और संकटों की जड़ होती है। दयानन्द के विचार में राज्य का प्रमुख उद्देश्य केवल सत्ता या शासन चलाना नहीं है, बल्कि यह समाज के समग्र कल्याण के लिए कार्य करना है। उन्होंने लिखा है कि राज्य का उद्देश्य ''समग्र प्रजासम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर विद्या, स्वातंपय, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करना है।'' अर्थात, शासन का कार्य केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखना नहीं, बल्कि प्रजा को शिक्षा, धार्मिक और नैतिक मूल्य, आर्थिक समृद्धि तथा सुव्यवस्था प्रदान करना भी है। आज के समय में स्वामी दयानन्द के राजनीतिक और प्रशासनिक विचार अत्यन्त प्रासंगिक हैं। आधुनिक राजनेता और शासक उनके दृष्टिकोण से प्रेरणा लेकर राज्य प्रशासन को अधिक पारदर्शी न्यायसंगत और जन-केंद्रित बना सकते हैं। यदि उनके सिद्धांतों का पालन किया जाए तो राज्य न केवल सुचारु रूप से संचालित होगा, बल्कि वास्तविक अर्थों में जन कल्याण और सामाजिक उत्थान को भी बढ़ावा मिलेगा।

ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राजधर्म और राज्य-प्रशासन की रूपरेखा को उन्होंने कोई अन्तिम या अपरिवर्तनीय नियम नहीं माना। उनका विश्वास था कि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में अनेक नरेशों को राजधर्म का उपदेश दिया। विशेष रूप से उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह और शाहपुराधीश राजाधिराज नाहरसिंह को उन्होंने मनुस्मृति में प्रतिपादित राजधर्म सम्बन्धी अध्यायों का गहन विवेचन कर समझाया। उन्होंने इन राजाओं को यह निर्देश दिया कि प्रजा का हित ही उनका सर्वोपरि कर्तव्य होना चाहिए।

राजाओं को उनके धर्म का बोध कराने के लिए दयानन्द ने समय-समय पर अपने इन शिष्य-नरेशों को विस्तृत पत्र भी लिखे। इन पत्रों में उन्होंने उन्हें प्रजापालन की जिम्मेदारी और कर्तव्यों का स्मरण कराया। इन पत्रों से प्रभावित होकर महाराणा सज्जनसिंह ने एक अवसर पर उत्तर में स्वामीजी को लिखा कि उन्हें ऐसा पत्र प्राप्त कर अत्यन्त संतोष और मार्गदर्शन मिला है।

राज्य के कार्य

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक चिंतन में राज्य की अवधारणा अत्यन्त स्पष्ट और संतुलित रूप में सामने आती है। उनके अनुसार राज्य कोई सर्वव्यापक संस्था नहीं है, बल्कि उसकी सत्ता दो सीमाओं से बंधी है—एक ओर धर्म और दूसरी ओर जनता। राज्य को केवल उतनी ही शक्ति प्राप्त है, जितनी धर्म और समाज उसे प्रदान करते हैं। राज्य के प्रमुख कार्यों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कुछ मूलभूत उत्तरदायित्व

निर्धारित किए। उनके अनुसार— (1) समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखना, (2) शिक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना, (3) प्रजा के सर्वांगीण कल्याण की व्यवस्था करना, और (4) देश को आभ्यंतर तथा बाह्य शत्रुओं से सुरक्षित रखना।

इन मूल कार्यों के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने राज्य को अनेक सार्वजनिक सेवाओं के दायित्वों से भी जोड़ा। उन्होंने नगरों के सुनियोजित निर्माण, नशा एवं मादक द्रव्यों के निषेध, कृषि भूमि की सिंचाई हेतु नहरों की व्यवस्था, तथा उन्नत यातायात साधनों—वायुयान और जलयान के निर्माण और उनकी जनसुलभ उपलब्धता को भी शासन के कार्यक्षेत्र में रखा।

राज्य के उद्देश्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार राज्य के निम्नलिखित उद्देश्य हैं-

1. मानव समाज में धर्मपरायणता अर्थात कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, गम्य-अगम्य, धर्म-अधर्म की मर्यादा की स्थापना करना
2. पक्षपात रहित, न्यायपूर्ण दण्ड व्यवस्था
3. दुष्टों का नाश
4. प्रजा पालन अर्थात् जनता के सामूहिक हित कल्याण का सम्पादन करना
5. मानव जीवन के चरम लक्ष्य-मोक्ष की प्राप्ति।

स्वामी दयानन्द के अनुसार राज्य तभी नीतिपरायण और आदर्श होता है जब केवल शासक ही नहीं, बल्कि शासित वर्ग भी नैतिकता के मार्ग का अनुसरण करे। राज्य व्यवस्था का आधार शक्ति या भय नहीं, बल्कि धर्म और नीति होना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि सच्चा मनुष्य वही है जो मननशील होकर अपने समान दूसरों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान से भयभीत न हो और धर्मात्मा निर्बल के प्रति भी श्रद्धा और आदर रखे। दयानन्द का आदर्श यह था कि राज्य और उसके नागरिक अपने समस्त सामर्थ्य का उपयोग धर्मात्माओं की रक्षा और उन्नति के लिए करें, चाहे वे कितने ही अनाथ, निर्बल अथवा गुणहीन क्यों न हों। इसके विपरीत अधर्मी यदि अत्यन्त शक्तिशाली, गुणवान और समृद्ध क्यों न हो, तो उसका दमन और नाश राज्य का कर्तव्य है। न्याय की रक्षा और अन्याय के उन्मूलन के इस कार्य में यदि किसी को दुःख, कठिनाई या यहाँ तक कि प्राणहानि भी क्यों न उठानी पड़े, तो भी धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में राज्य का एक प्रमुख उद्देश्य केवल जनसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि उसके द्वारा जनता के सामूहिक कल्याण की निरंतर अभिवृद्धि भी होनी चाहिए। वे लिखते हैं कि राजा और उसकी राजसभा का यह दायित्व है कि वह अलभ्य वस्तुओं की प्राप्ति का

प्रयत्न करे, जो प्राप्त हो चुका है उसकी रक्षा करे, सुरक्षित को और बढ़ाए तथा अर्जित संपत्ति का उपयोग वेदविद्या के प्रचार, धर्म के प्रसार, विद्यार्थियों और उपदेशकों की सहायता तथा असमर्थ और अनाथों के पालन-पोषण में करे। किन्तु दयानन्द के अनुसार राज्य के उद्देश्य केवल धर्मपरायणता की स्थापना, न्यायपूर्ण और निष्पक्ष दण्डव्यवस्था, दुष्टों का विनाश तथा जनकल्याणकारी कार्यों तक ही सीमित नहीं रहते। वे इससे भी आगे बढ़कर राज्य के सर्वोच्च लक्ष्य को मानव जीवन के चरम प्रयोजन—मोक्ष की प्राप्ति में देखते हैं। उनका विचार है कि राजा और प्रजा दोनों का आचरण इस प्रकार होना चाहिए कि वे धर्म, अर्थ, काम और अंततः मोक्ष की सिद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकें। स्वामी जी लिखते हैं— "जो राजा प्रजापिता और पुत्र के समान अपना बर्ताव बर्ते तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फल की सिद्धि को यथावत् प्राप्त हों। जैसे राजा प्रजा के सुख को बढ़ावें वैसे प्रजा भी राजा के सुख और बल की उन्नति करें।" स्वामी दयानन्द ने यह भी चेताया कि राजा यदि प्रजा के विरोध में चले तो वह उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसी प्रकार, ईश्वर और राजा की छत्रछाया के बिना प्रजाजन भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं कर सकते। यजुर्वेद भाष्य के सत्ताइसवें अध्याय के पाँचवें मंत्र के भावार्थ में दयानन्द ने आदर्श राजा का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनके अनुसार—

राजा सदा ब्रह्मचर्य से दीर्घायु हो, सत्य और धर्म में अनुरक्त हो, योग्य और धर्मनिष्ठ मंत्रियों के साथ विचार-विमर्श करे, अन्य राजाओं के साथ उत्तम संधि बनाए, न्यायाधीश के रूप में पक्षपात से रहित हो, दुष्ट व्यसनों से सर्वथा दूर रहे और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को धैर्य शांति और सजगता के साथ क्रमशः प्राप्त करे।

प्रजातंत्र के पोषक

स्वामी दयानन्द सरस्वती केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं थे, अपितु राजनीतिक दृष्टि से भी वे गहन लोकतांत्रिक विचारों के समर्थक थे। उन्होंने प्राचीन भारत की उस गौरवशाली परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, जिसमें राज्यव्यवस्था लोकतांत्रिक आदर्शों पर आधारित थी। उनके लोकतंत्र के प्रति अनुराग और विश्वास को सबसे स्पष्ट रूप से उस संगठनात्मक व्यवस्था में देखा जा सकता है, जिसे उन्होंने स्वयं स्थापित किया।

चुनाव आधारित आर्य समाज का संगठन :- आर्य समाज की स्थापना करते समय स्वामी दयानन्द ने इस संगठन की पूरी संरचना को चुनाव-आधारित बनाया। समाज के प्रत्येक स्तर पर पदाधिकारी और परिषद् सदस्य चुने जाते थे। नीचे की शाखाओं से लेकर ऊपर तक की समितियों में प्रतिनिधि चुनाव के द्वारा निर्धारित होते थे। यह सिद्धान्त उस समय की हिन्दू धार्मिक व्यवस्थाओं के लिए एक अभूतपूर्व

और क्रांतिकारी कदम था, क्योंकि वहां सामान्यतः वंश परंपरा या अधिकार-आधारित नियुक्तियाँ प्रचलित थीं।

लोकतंत्र का सिद्धान्त तथा व्यावहारिक रूप :- स्वामी दयानन्द सरस्वती का राजनीतिक चिन्तन लोकतांत्रिक आदर्शों पर आधारित था। वे मानते थे कि जिस राज्य या संस्था में सत्ता केवल वंशानुक्रम या जातिगत विशेषाधिकारों पर टिकी हो, वह दीर्घकालीन रूप से न्यायपूर्ण और स्थायी नहीं रह सकती। इस कारण उन्होंने लोकतंत्र के सिद्धान्त को सैद्धान्तिक स्तर पर भी स्वीकार किया और व्यावहारिक जीवन में भी उसे लागू किया। सबसे पहले, आर्य समाज की स्थापना करते समय उन्होंने इस संस्था के संगठन को पूरी तरह चुनाव-आधारित बनाया। समाज की प्रत्येक इकाई से लेकर सर्वोच्च समिति तक पदाधिकारी चुनाव के द्वारा चुने जाते थे। यह सिद्धान्त हिन्दू धार्मिक व्यवस्था में अत्यंत क्रांतिकारी था, क्योंकि वहां अब तक परम्परागत भावनाओं, विशेषतः ब्राह्मण वर्ग की वर्चस्ववादी सत्ता, को ही मान्यता प्राप्त थी। दयानन्द ने इस परम्परा को तोड़कर एक नई सामाजिक-धार्मिक संस्था को पूर्णतः लोकतांत्रिक आधार पर खड़ा किया। दूसरे, आदर्श राजतंत्र की जो रूपरेखा उन्होंने प्रस्तुत की, उसमें भी लोकतांत्रिक सिद्धान्त को सर्वथा स्वीकार किया गया।

स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृभाव में पूरा विश्वास :- महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धान्तों स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव में गहरा विश्वास व्यक्त किया। उनका लोकतंत्र किसी विशेष वर्ग, जाति या समुदाय तक सीमित नहीं था, बल्कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप से खुला था। उन्होंने तथाकथित अस्पृश्य माने जाने वाले वर्गों के लिए भी लोकतांत्रिक जीवन के द्वार खोल दिए। दयानन्द का विचार था कि लोकतंत्र व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता, बल्कि उसे स्वतंत्र रूप से विकसित होने का अवसर देता है। वे समाज को एक जीवित अंग (सावयवी संस्था) मानते थे, किन्तु इसके साथ ही व्यक्ति के गौरव और व्यक्तित्व के मूल्य को भी उतना ही महत्व देते थे। उनके अनुसार, जब तक व्यक्ति की स्वतंत्रता और सम्मान को स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना संभव नहीं है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए। राज्य की सफलता इसी में है कि वह प्रत्येक नागरिक के गुणों और कर्मों के आधार पर उसका मूल्यांकन करे, न कि जन्म, जाति या सामाजिक स्थिति के आधार पर। इस दृष्टि से उनका लोकतंत्र जन्माधारित भेदभाव और विशेषाधिकार का विरोधी था। महर्षि दयानन्द का लोकतांत्रिक दृष्टिकोण इतना व्यापक था कि वे दुराचार की स्थिति में राजा को भी उसी प्रकार दण्डित करने योग्य मानते थे जैसे किसी सामान्य व्यक्ति को। उन्होंने अपने द्वारा स्थापित आर्य समाज में

किसी भी जाति, धर्म या लिंग के व्यक्ति को प्रवेश का समान अधिकार दिया। उनके लिए सभी मनुष्य समान थे और सभी को शुभ जीवन के लिए आवश्यक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

निर्वाचन का लोकतांत्रिक सिद्धान्त :- महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने आदर्श राज्यतंत्र की परिकल्पना में निर्वाचन के लोकतांत्रिक सिद्धान्त को विशेष महत्व दिया। उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि राज्य की सभी स्वीकृत और विधिक संस्थाओं का निर्माण जनता की सहभागिता और चुनाव द्वारा होना चाहिए। इस उद्देश्य से उन्होंने शासन व्यवस्था के लिए तीन प्रमुख निकायों की कल्पना की – 'धर्मार्थ सभा', 'विद्यार्य सभा' एवं राजार्य सभा। इन तीनों सभाओं को परस्पर नियन्त्रण और सन्तुलन की भूमिका निभानी थी, ताकि किसी एक संस्था या व्यक्ति के हाथ में निरंकुश शक्ति केन्द्रित न हो सके। स्वामी दयानन्द का मानना था कि चाहे कोई व्यक्ति कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, शासन की समस्त सत्ता उसमें केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। राजा को भी केवल परिषद का अध्यक्ष माना गया और उसे अपनी इच्छाओं को परिषद की सामूहिक इच्छा के अधीन रखना अनिवार्य था। इसी प्रकार परिषद और राजा – दोनों को जनता की आकांक्षाओं का सम्मान करना आवश्यक बताया गया, जबकि जनता का कर्तव्य था कि वह परिषद द्वारा बनाए गए कानूनों और आदेशों का पालन करे।

राजा जनता से स्वतंत्र नहीं :- महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृढ़ विश्वास था कि राज्य का प्रमुख अर्थात् राजा जनता से स्वतंत्र नहीं होना चाहिए। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि शासक वर्ग प्रजा से अलग और निरंकुश हो जाए, तो उसका परिणाम सदैव प्रजा के विनाश के रूप में सामने आता है। अकेला स्वाधीन और उन्मत्त राजा प्रजा का शत्रु बन जाता है और उसकी स्थिति उस सिंह जैसी हो जाती है जो वन में अन्य पशुओं का संहार करता है। दयानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा कि राज्य में किसी भी एक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता या निरंकुशता नहीं दी जानी चाहिए, क्योंकि इससे शासन अन्यायपूर्ण हो जाएगा। इसके विपरीत उन्होंने न्यायप्रिय, दुष्टनाशक और अन्याय का विनाश करने वाले शासक की कामना की। उनके लिए शासन का सर्वोच्च लक्ष्य अन्याय का अंत और न्याय की स्थापना था।

अमर्यादित दण्ड नहीं :- महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह दृष्टिकोण था कि राज्य में दण्ड व्यवस्था अमर्यादित और मनमानी नहीं होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि केवल सुविचारित और न्यायपूर्ण दण्ड ही प्रजा और राज्य दोनों के हित में होता है। यदि दण्ड बिना सोच-विचार के लगाया जाए, तो यह न केवल प्रजा के लिए हानिकारक है, बल्कि राजा और शासक वर्ग को भी विनाश की ओर ले जाता है। दयानन्द के अनुसार, जब शासक सोच-विचारकर दण्ड की व्यवस्था करता है, तब

राज्य में धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि संभव होती है। इसके विपरीत, यदि राजा ईर्ष्यालु या क्षुद्र मनोवृत्ति का हो तो दण्ड ही उसके पतन का कारण बन सकता है।

राजा अपने आप में दण्डाधिकारी और न्यायाधीश दोनों होता है। इसके अंतर्गत उसे अपराधियों के विरुद्ध उचित दण्ड व्यवस्था करना, प्रजा के बीच उत्पन्न वाद-विवादों का न्यायपूर्ण निस्तारण करना और निष्पक्ष निर्णय लेना आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया में साक्षियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि वे न्यायाधीश को वास्तविक तथ्यों और अपराध की जानकारी प्रदान करते हैं।

ग्राम-प्रशासन :- स्वामी दयानन्द ने अपने आदर्श राज्यतंत्र में ग्राम-आधारित प्रशासन की कल्पना की, जो उनके लोकतांत्रिक आदर्शों का प्रमुख अंग था। यद्यपि कभी-कभी इस व्यवस्था का बाहरी ढाँचा राजतंत्रात्मक प्रतीत हो सकता है, उसका मूल उद्देश्य जनता की सहभागिता और नियंत्रण सुनिश्चित करना था। दयानन्द ने गाँवों की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के पतन पर खेद व्यक्त किया और मनुस्मृति के आधार पर गाँवों को प्रशासन का अभिन्न अंग बनाने का समर्थन किया। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि राज्य की इकाई ग्राम होनी चाहिए। प्रत्येक ग्राम में एक प्रधान पुरुष नियुक्त किया जाए, जो अपने ग्राम की गतिविधियों और दोषों की जानकारी रखे। इसके ऊपर क्रमशः दस, बीस, सौ और सहस्र ग्रामों के लिए उच्च अधिकारियों की पदावली निर्धारित की जाए, ताकि प्रत्येक स्तर पर प्रशासनिक नियंत्रण और सूचना का प्रवाह सुव्यवस्थित रूप से हो। उनकी व्याख्या के अनुसार - एक ग्राम का प्रधान पुरुष अपने ग्राम में उत्पन्न दोषों को गुप्त रूप से दस ग्राम के अधिपति को सूचित करे। दस ग्राम के अधिपति बीस ग्राम के स्वामी को सूचना दें। बीस ग्राम के अधिपति सौ ग्राम के अध्यक्ष को प्रतिदिन स्थिति बताएं। सौ ग्रामों के अधिपति सहस्त्र ग्रामों के दस अधिपतियों को जानकारी दें। दस सहस्र ग्रामों के दो सभापति राजसभा को रिपोर्ट करें, जिनमें से एक अध्यक्षता करे और दूसरा निरंतर सभी न्यायाधीशों और राजपुरुषों के कार्यों की निगरानी करे।

वैदिक सार्वभौमवाद :- स्वामी दयानन्द सरस्वती भारत में वैदिक संस्कृति तथा जीवन-प्रणाली का अक्षरशः पुनरुद्धार करने में विश्वास करते थे। उनका मानना था कि वैदिक धर्म ही मानव जाति का आदि धर्म है और उसी में समस्त समस्याओं का समाधान निहित है। किन्तु उनकी दृष्टि केवल भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं थी। वे स्वयं स्वीकार करते थे कि यद्यपि उनका जन्म और निवास आर्यावर्त में हुआ है, तथापि उनका उद्देश्य समस्त मानव जाति का उद्धार और कल्याण है। उनके विचारों में किसी भी प्रकार की संकीर्णता या जातीयता का भाव नहीं था। उन्हें किसी भी मनुष्य का बन्धन में रहना प्रिय नहीं था। इसीलिए उनकी शिक्षाओं में

एक गहन मानवतावादी सार्वभौमवाद स्पष्ट झलकता है। स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि समाज का धार्मिक उद्देश्य केवल किसी विशेष जाति, वर्ग या देश तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि वह समस्त मानवता की शारीरिक, आध्यात्मिक और सामाजिक दशा को सुधारने वाला होना चाहिए। उन्होंने यह उद्घोषणा की कि वे उसी धर्म को स्वीकार करते हैं जो सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित हो, जिसमें वह सब समाविष्ट हो जिसे मानव जाति सत्य मानकर आदिकाल से स्वीकार करती आयी है और जिसका पालन भविष्य में भी निरन्तर करती रहेगी। यही धर्म उनके अनुसार सनातन नित्यधर्म है, जिसका विरोध कोई भी नहीं कर सकता। दयानन्द के अनुसार वही धर्म ग्राह्य है जो सब मनुष्यों के द्वारा और सब युगों में विश्वास करने योग्य हो। यह विचारधारा उनके सार्वभौम दृष्टिकोण और युगान्तरकारी चिंतन की परिचायक है। दयानन्द ने अपने इस उच्च ध्येय की पूर्ति के लिए केवल आर्य समाज ही नहीं, बल्कि 'परोपकारिणी सभा' नामक संस्था की भी स्थापना की। इस संस्था का संचालन तेईस न्यासधारियों की एक समिति द्वारा किया जाता था। परोपकारिणी सभा का कार्यक्रम अत्यन्त व्यापक और व्यावहारिक था। उसके तीन प्रमुख अंग थे—प्रथम, वेदों और वेदांगों के ज्ञान का प्रचार-प्रसार करना और वैदिक साहित्य को जनसामान्य तक पहुँचाना। द्वितीय, विश्व के विभिन्न भागों में धर्मप्रचारक भेजना तथा प्रचार केन्द्रों की स्थापना करना ताकि अधिकाधिक लोग वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त कर सकें और सत्य पर दृढ़ रहकर असत्य का परित्याग कर सकें। तृतीय, भारतीय समाज के अनाथों, दरिद्रों और असहायों को संरक्षण तथा शिक्षा प्रदान करना। दयानन्द ने महसूस किया था कि भारतीय समाज का सबसे दुर्बल और दलित वर्ग उस समय उपेक्षा, अज्ञान और शोषण का शिकार था। उनका उद्धार करना और उन्हें शिक्षा एवं आत्मगौरव की भावना से परिपूर्ण करना तत्कालीन आवश्यकता थी। इसीलिए उन्होंने परोपकारिणी सभा की स्थापना के माध्यम से समाज के इन वर्गों को विशेष संरक्षण और शिक्षा देने की योजना बनाई। किन्तु दयानन्द की दृष्टि केवल भारत तक सीमित नहीं थी। उनकी प्रबल इच्छा थी कि विश्वभर में शुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार हो और सम्पूर्ण मानवता को सत्य, अहिंसा, न्याय और धर्म की राह पर अग्रसर किया जाए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की सूक्ष्म दृष्टि से समाज और राष्ट्र-निर्माण का कोई भी ऐसा विषय अछूता न रहा जो युग के उत्थान में बाधक था। उन्होंने उन सभी विकृतियों और कुरीतियों पर प्रहार किया जो भारतीय समाज की प्रगति और आत्मगौरव को नष्ट कर रही थीं। बालविवाह जैसी अमानवीय परम्परा, विधवाओं का जीवनभर के लिए शोषित और उपेक्षित रहना, गौहत्या जैसी नृशंस प्रवृत्ति, स्त्री और शूद्र को वेदाध्ययन से वंचित रखना, छुआछूत और अस्पृश्यता की कुरीति, विकृत पूजा-पद्धति

और अंधविश्वास, धर्म के नाम पर विभाजित सम्प्रदाय, शिक्षा का अंग्रेजीकरण और स्वदेश व स्वसंस्कृति के प्रति हीनभावना—इन सबके विरुद्ध महर्षि दयानन्द एक अडिग चट्टान की भाँति खड़े हो गये। इन कुरीतियों और विकृतियों के उन्मूलन के लिए उन्हें अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं। कभी उन्होंने विष का घूँट पिया, तो कभी उनके ऊपर ईंटें और पत्थर बरसाये गये। किसी ने उन पर तलवार से प्रहार किया, तो किसी ने उनकी झोंपड़ी में आग लगा दी। एक बार तो उन्हें पकड़कर नदी में फेंक दिया गया। उनके विरोधियों ने उन्हें विदेशियों का एजेन्ट तक घोषित कर दिया। किंतु यह सिंह पुरुष इन सब यातनाओं और आक्षेपों को हँसते-हँसते सहन करता रहा। उनके लिए यह पीड़ाएँ त्याग और तपस्या का साधन थीं। दयानन्द ने अपने प्रखर साहस, ओजस्वी वाणी और अदम्य निश्चय से उस मृतप्राय समाज में नया उत्साह और नवजीवन भर दिया। उन्होंने परम्परा और रूढ़ियों में जकड़े हुए भारतीयों के भीतर आत्मगौरव और आत्मबल का संचार किया। जिस समाज में निराशा और हताशा का वातावरण व्याप्त था, उसे उन्होंने पुन: जगाकर प्रगति की ओर अग्रसर किया। आज जो भी समाज और राष्ट्र के जीवन में प्रगति की किरणें दृष्टिगोचर होती हैं, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो या राष्ट्रीय, उनके पीछे महर्षि दयानन्द की ही दी हुई रूपरेखा छिपी हुई है। उनके प्रभाव का मूल्यांकन केवल भारत में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी किया गया। फ्रांस के एक प्रसिद्ध साहित्यकार ने लिखा कि ''दयानन्द ने भारत के निष्प्राण शरीर में अपना अदम्य उत्साह, अपना दृढ़ संकल्प और सिंह जैसा रक्त भरकर उसे सजीव कर दिया। उनके शब्दों में अपूर्व वीर-शक्ति थी, जिनकी गूँज से उनका विरोध करने वाले भयभीत हो जाते थे। वे प्राचीन भारत के पवित्र ग्रन्थों को हाथ में लेकर वीर भावना के साथ कार्य क्षेत्र में उतरे थे। उन्होंने अकेले ही उन शक्तियों का सामना किया जो भारत की आत्मा को निगल लेना चाहती थीं। उनके शब्द धधकती हुई आग के समान थे, जो उनके विरोधियों के असत्य को भस्मसात कर देती थी। उनकी शिक्षाओं के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीयता का प्रथम नवजागरण हुआ।''

स्वामी दयानन्द सरस्वती केवल धर्म-सुधारक या सामाजिक नवचेतना के प्रेरक ही नहीं थे, वे एक दूरदर्शी राजनीतिक चिन्तक भी थे। उनके विचारों में भारतीय राज्यतंत्र की एक ऐसी कल्पना मिलती है जो लोकतान्त्रिक आदर्शों और वैदिक परम्परा के अद्‌भुत समन्वय का परिचय देती है। दयानन्द ने भारत की प्रशासनिक इकाई के रूप में ग्राम को ही प्राथमिक महत्व दिया। उनके अनुसार ग्राम ही राष्ट्र की वास्तविक नींव है और यदि ग्राम की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था सुव्यवस्थित होगी तो सम्पूर्ण राष्ट्र का शासन भी स्वस्थ और सुदृढ़ रहेगा। यही कारण है कि उन्होंने अपने

ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में ग्राम प्रशासन और उसके संगठन पर विशेष बल दिया। ग्राम प्रशासन की उनकी यह परिकल्पना स्पष्ट रूप से मनुस्मृति और वैदिक व्यवस्था से प्रभावित थी। उन्होंने लिखा कि दो, तीन, पाँच और सौ गाँवों के पीछे-पीछे एक-एक प्रशासनिक कार्यालय की स्थापना की जानी चाहिए, जिनमें योग्य और दक्ष अधिकारियों की नियुक्ति हो। उन्होंने ग्राम से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय परिषद तक की प्रशासनिक श्रृंखला को बड़ी सूक्ष्मता और स्पष्टता से रेखांकित किया। उनकी योजना के अनुसार एक अधिकारी एक गाँव का मुखिया बने, दूसरा दस गाँवों का, तीसरा बीस गाँवों का, चौथा सौ गाँवों का और पाँचवाँ एक हजार गाँवों का प्रमुख हो। इस तरह छोटे-से-छोटे गाँव का प्रशासन भी उच्च अधिकारियों तक सीधा सम्पर्क रख सके। उन्होंने पुलिस व्यवस्था की भी सुसंगठित रूपरेखा प्रस्तुत की। उनके अनुसार प्रत्येक दस गाँवों के पीछे एक पुलिस स्टेशन की शाखा होनी चाहिए और ऐसी दो शाखाओं के ऊपर एक मुख्य पुलिस थाना बने। पाँच मुख्य पुलिस स्टेशनों के ऊपर एक तहसील का प्रबन्ध हो और दस तहसीलों को मिलाकर एक जिला बने। प्रशासनिक कार्य में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व बनाये रखने के लिए दयानन्द ने रिपोर्ट प्रणाली का विस्तृत वर्णन किया। उन्होंने व्यवस्था दी कि प्रत्येक गाँव का अधिकारी प्रतिदिन अपने गाँव की गतिविधियों और अपराधों की सूचना दस गाँवों के अधिकारी को दे। दस गाँवों का अधिकारी बीस गाँवों के अधिकारी को अपनी रिपोर्ट सौंपे, बीस गाँवों का अधिकारी सौ गाँवों के अधिकारी को और इसी प्रकार क्रमशः हजार गाँवों के अधिकारी और फिर दस हजार गाँवों के अधिकारी को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे। अंततः दस हजार गाँवों का अधिकारी अपनी रिपोर्ट उस सभा के सम्मुख रखे जो लाख कस्बों का शासन करती हो। इस प्रकार प्रत्येक स्तर पर एक उत्तरदायी और संगठित तंत्र स्थापित हो सके। उन्होंने यह भी प्रावधान किया कि प्रत्येक दस हजार गाँवों पर दो अधिकारी नियुक्त हों—एक सभा का सभापति बने और दूसरा सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके मजिस्ट्रेटों तथा अन्य अधिकारियों के कार्यों का योग्य निरीक्षण करे। इस प्रकार शासन की व्यवस्था केवल केन्द्रीयकृत नहीं, बल्कि विकेन्द्रीकृत, उत्तरदायी और जनसहभागिता पर आधारित हो।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्रीय आन्दोलन की आधारभूमि तैयार की, किन्तु उनकी तैयारी राजनीतिक नारेबाजी या प्रत्यक्ष संघर्ष के रूप में नहीं थी, बल्कि सामाजिक और धार्मिक पुनर्जागरण के रूप में थी। उनका मानना था कि जब तक भारतीय समाज मानसिक दासता की बेड़ियों से मुक्त नहीं होगा, तब तक वह राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने योग्य नहीं हो सकेगा। इसलिए उन्होंने सबसे पहले अंधविश्वास, कुरीतियों और गुलामी की मानसिकता पर प्रहार किया और भारतीयों को अपने

गौरवशाली अतीत की याद दिलाई। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने दयानन्द को केवल एक महान सुधारक ही नहीं, बल्कि एक प्रखर क्रांतिकारी महापुरुष बताया है। उनके अनुसार, स्वामी दयानन्द के हृदय में सामाजिक अन्यायों को जड़ से उखाड़ फेंकने की प्रचण्ड अग्नि जल रही थी। उनकी शिक्षाएँ आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं, जितनी उनके युग में थीं। उन्होंने मानवता को यह महान संदेश दिया कि किसी भी बात को केवल परम्परा या अंधश्रद्धा के आधार पर स्वीकार न किया जाए, बल्कि उसे सत्य की कसौटी पर परखकर ही मान्यता दी जाए। के.एम. मुंशी ने भी उनके योगदान का मूल्यांकन करते हुए कहा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वर्तमान भारत के सर्वप्रथम महान निर्माता थे। उनका यह विश्वास था कि भारत की भावी पीढ़ियाँ उनकी स्मृति को कभी नहीं भूलेंगी, क्योंकि उन्होंने ही उस राष्ट्र की नींव रखी थी जो आगे चलकर स्वतंत्रता के पथ पर अग्रसर हुआ। दयानन्द ने राष्ट्रीय एकता पर विशेष बल दिया। उनका मानना था कि भारत की सबसे बड़ी कमजोरी आपसी मतभेद और फूट है जो हमारे समस्त दु:खों और परतन्त्रता का मूल कारण है। उन्होंने समाज में जातिगत भेदभाव, ऊँच-नीच की दीवारों और धार्मिक संकीर्णताओं को तोड़ने का आह्वान किया। वे एक संतुलित विश्लेषक थे, जिन्होंने एक ओर भारत के महान गौरवपूर्ण अतीत का गान किया, तो दूसरी ओर अपने देशवासियों की कमियों और दोषों को भी स्पष्ट किया। वे अपने देश और देशवासियों को आलस्य, अज्ञान और पराधीनता से उठाकर प्रगति और आत्मगौरव के पथ पर ले जाना चाहते थे।

सारत: कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज ने बहुत पहले ही उन कार्यक्रमों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था, जो आगे चलकर महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम का अभिन्न अंग बने। इनमें राष्ट्रभाषा का प्रचार-प्रसार, राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार, अस्पृश्यता का अन्त, कुटीर उद्योगों का उत्थान तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता की चेष्टा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वामी दयानन्द ने राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत और हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उनका विश्वास था कि भाषा ही किसी राष्ट्र की आत्मा होती है और उसी से उसके बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने वेद-आधारित, व्यावहारिक और राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन किया, जिससे भारतीय समाज आत्मनिर्भर बने और विदेशी शिक्षा व्यवस्था पर निर्भर न रहे। अस्पृश्यता और जाति-पाँति की कुरीतियों के विरुद्ध उनका स्वर अत्यन्त प्रखर था। उन्होंने मानव मात्र की समानता को स्वीकार किया और यह स्पष्ट किया कि छुआछूत समाज की सबसे बड़ी दुर्बलता है। समाज को इस बन्धन से मुक्त करना उनका प्रमुख लक्ष्य रहा। आर्थिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द ने स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता का संदेश दिया। उन्होंने ग्रामीण जीवन को सशक्त

बनाने तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करने का समर्थन किया, जिससे भारतीय ग्राम स्वतंत्र और समृद्ध बन सकें। धार्मिक और सामाजिक स्तर पर उन्होंने मतभेद और विभाजन को भारत की दुर्बलता बताया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया और विभिन्न सम्प्रदायों के बीच भाईचारे की भावना को बढ़ाने का आह्वान किया। स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण केवल भारतीय समाज तक सीमित नहीं था। उन्होंने संपूर्ण मानवता को समन्वयवादी और मानवतावादी मार्ग पर चलने का संदेश दिया। महात्मा गाँधी ने भी इसी मिश्रित भारतीय संस्कृति को भविष्य की विश्व-व्यवस्था का आधार माना।

❑❑❑